



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2021; 7(5): 307-309

© 2021 IJSR

[www.anantaajournal.com](http://www.anantaajournal.com)

Received: 03-07-2021

Accepted: 06-08-2021

डॉ० मधुकर मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग  
जे०एस० विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद,  
उत्तर प्रदेश, भारत

### प्राचीन न्याय—प्रशासन के प्रमुख अधिकारी

डॉ० मधुकर मिश्र

प्रस्तावना

प्राचीन काल की न्याय व्यवस्था अत्यधिक पवित्र थी। उस समय धर्म के आधार पर न्याय व्यवस्था आधारित थी। राजा प्रायः स्वेच्छाचारिता नहीं दिखा पाता था। वह न्यायाधीशों एवं सभ्यों की सहायता से न्याय करता था। प्राङ्गविवाक, सभ्य, शास्त्रज्ञ एवं व्यवहार निष्णात होते थे। वे शास्त्रों के आधार पर ही अपना निर्णय देते थे। पुरोहित वर्ग का भी न्याय में (शास्त्र का परामर्श देने सम्बन्धी) प्राधान्य रहता था। न्याय व्यवस्था का व्यापक, वैज्ञानिक एवं सुनिश्चित विधान बना हुआ था। न्यायाधीश के द्वारा अनुचित निर्णय करने पर राजा के यहाँ उसकी सुनवाई होती थी। राजा न्याय का अन्तिम अधिकारी होता था।

प्राङ्गविवाक—स्मृतिकाल में वस्तुतः राजा को ही न्याय करने का सर्वाधिकार प्राप्त था। कार्याधिक्य के कारण न्यायिक प्रशासन में समय नहीं दे सकने के कारण राजा ने अपनी सहायता के लिए न्यायाधीश या न्यायाधीशों की नियुक्ति किया करता था।<sup>1</sup> उस समय राजा स्वयं द्वारा नियुक्त न्यायाधीश ब्राह्मणों एवं मंत्रज्ञ मंत्रियों के साथ व्यवहारों (मुकदमों) को सुलझाता था।<sup>2</sup> राजा के द्वारा नियुक्त न्यायाधीश को 'प्राङ्गविवाक' कहा जाता था। 'प्राङ्गविवाक' प्राचीन शब्द है। 'प्राङ्गविवाक' प्राङ्ग और विवाक का संधि रूप है। 'पूच्छतीति प्राट्' अर्थात् जो व्यक्ति अभियुक्त, अभियोक्ता तथा साक्षियों से प्रश्न पूँछता था तथा उस पर विचार करके फैसला देता था, वह प्राङ्गविवाक अर्थात् मुख्य न्यायाधीश कहलाता था। अर्थात् प्राङ्गविवाक के दो कार्य हुए— प्रथम किसी बात का अन्वेषण करना तथा दूसरा सत्य प्रकट करना। वर्तमान समय में लगभग यही कार्य वकीलों का होता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के धर्मस्थीय नामक तृतीय अधिकरण में राजा द्वारा नियुक्त जिन न्यायाधीशों का उल्लेख हुआ है, उनके लिए वहाँ 'धर्मस्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मनुस्मृति तथा गौतम धर्मसूत्र के विपरीत राजा द्वारा नियुक्त तीन न्यायाधीशों का उल्लेख है। उन धर्मस्थ (न्यायाधीशों) की नियुक्ति किन-किन स्थानों पर होनी चाहिए इसकी भी विशेष व्यवस्था कौटिल्य ने बताई है। जैसा कि अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि जो अमात्य धर्मोषधा नामक (धार्मिक उपायों से की जाने वाली) परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय, उसे ही 'धर्मस्थ' अर्थात् न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।<sup>3</sup> कौटिल्य के अनुसार दो जनपदों की सीमा पर, दस ग्रामों के केन्द्र में, चार सौ ग्रामों के केन्द्र में और आठ सौ ग्रामों के केन्द्र में व्यवहार सम्बन्धी कार्यों को करने के लिए अमात्यों के गुणों से युक्त तीन-तीन न्यायाधीशों की नियुक्ति होनी चाहिए।<sup>4</sup>

गौतम धर्मसूत्र का अनुशीलन करने से भी यह ज्ञात होता है कि प्रायः राजा को स्वयं ही न्यायकर्ता बनकर विवादों को निपटाना चाहिए, परन्तु यदि किसी कारणवश राजा ऐसा न कर सके तो वह अपनी सहायता के लिए शास्त्रों में पारंगत ब्राह्मण को ही न्यायाधीश बनाये।<sup>5</sup> प्राङ्गविवाक सही न्याय करने के लिए अन्वेषण तथा पूँछताछ आदि उपायों का सहारा लेता था तथा इसके अलावा वह अर्थी-प्रत्यर्थी की पूरी बात सुनकर तथा साक्षी की गवाही तथा उनके भीतरी भावों को जानकर तदनुसार निर्णय करता था। जैसे— गवाह के बाहरी चिह्नों से, स्वर से अर्थात् बोलते समय घबराना, रूकना आदि से, इंगित अर्थात् इधर-उधर देखना आदि से, आकार से (पसीना आना, कंपन होना, रोमांच होना आदि से तथा हाथों को मसलना, अंगुलियों को मोड़ना आदि गलत हरकत करने से) न्यायाधीश सब कुछ जान लेता था।<sup>6</sup> संक्षेप में प्राङ्गविवाक का अर्थ उस व्यक्ति से है जो किसी न्यायिक विषय के बारे में पूरी जाँच-पड़ताल करके व साक्षी आदि की गवाही के आधार पर अपना निर्णय देता था। यदि प्राङ्गविवाक व्यवहार (मुकदमे) को ठीक तरह से नहीं देखता या सही न्याय नहीं करता था तो इस अधर्म का प्रथम चतुर्थांश अधर्म करने वाले को, द्वितीय चतुर्थांश गवाह (साक्षी) को, तृतीय चतुर्थांश सभी सभासदों को तथा चतुर्थ चतुर्थांश राजा को मिलता था।<sup>7</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेयि संहिता एवं गौतम धर्मसूत्र से प्राङ्गविवाक और प्रश्नविवाक के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा से शताब्दियों पूर्व भारत में

Corresponding Author:

डॉ० मधुकर मिश्र

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग  
जे०एस० विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद,  
उत्तर प्रदेश, भारत

कार्यपालिका एवं न्यायपालिका अलग हो चुकी थी। प्राङ्गुवाक राज्यसभा में अध्यक्ष के रूप में कार्य करता था जो कि मुख्यतः अपने क्षेत्र में उच्चतम न्यायालय होती थी।

प्राङ्गुवाक (प्रधान न्यायाधीश) विद्वान् ब्राह्मण ही होना चाहिए। ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य न्यायाधीश हो सकता था किन्तु शूद्र कदापि न्यायाधीश नहीं हो सकता था।<sup>9</sup> यहाँ पर 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ 'जाति' से न होकर 'ब्राह्मणत्व अर्थात् उच्च बौद्धिक क्षमता' से है।

न्यायाधीश की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, यह बात तो स्पष्ट है, किन्तु न्यायाधीशों के पदच्युति के बारे में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। उत्तरदायित्व के विषय में स्पष्ट है कि न्यायाधीश राजा के विधान के प्रति नहीं अपितु शास्त्र के प्रति उत्तरदायी थे। राजा के शासन का विधान स्वयं शास्त्र करते थे। राजशासन का विधान शास्त्र के आधार पर ही हो सकता था, राजा की इच्छा पर नहीं।<sup>9</sup> मनु के अनुसार गलत निर्णय देने वाले न्यायाधीश को राजा द्वारा दण्डित किया जाता था। और किसी वाद में सही न्याय न करने पर ऐसे न्यायाधीश की सम्पत्ति जब्त करने और देश-निकाला देने सरीखे दण्ड का उपयोग भी किया जाता था।<sup>10</sup> कौटिल्य ने भी मनु की भाँति न्यायाधीशों के विरुद्धाचरण पर दण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार धर्मस्थ (न्यायाधीश) यदि अदालत में मुकदमा पेश करते हुये या अभियोग के सम्बन्ध में कुछ कहते हुए व्यक्ति को डराता, धमकाता या बाहर निकाल देता है या उससे रिश्वत लेता है तो धर्मस्थ को प्रथम साहस का दण्ड दिया जावे। यदि विवाद करते हुए पुरुष के प्रति धर्मस्थ कठोर भाषा का प्रयोग करता है या साक्षी से मुकदमे से सम्बन्धित बातें न पूँछकर कोई और बात पूँछे या बिना पूँछे ही गवाह छोड़ दे या साक्षी के बयान देते समय रूकावट डाले तो धर्मस्थ को दण्डित किया जाना चाहिए।<sup>11</sup> इसके अतिरिक्त भी किसी प्रकार का अन्यायपूर्ण निर्णय करने पर धर्मस्थ के लिए कौटिल्य ने अन्य कई कठोर दण्ड का विधान किया है। (द्रष्टव्य है— कौटिल्य अर्थशास्त्र 4/9/84/38, 39, 42, 45) कौटिल्य एवं अन्य शास्त्रकारों के इस प्रकार के विधान वर्तमान समय के परिप्रेक्ष्य में ध्यातव्य हैं।

उस समय धर्मस्थ या मुख्य न्यायाधीश पक्षपातपूर्वक अथवा घूस लेकर गलत निर्णय नहीं दे सकते थे; क्योंकि धर्मस्थ अकेले ही विवादों का निर्णय नहीं करते थे। उनके परामर्शदाता तीन सभ्य रहते थे। ये सभ्य आधुनिक 'जूरी' (पंचायत अथवा पंच) की तरह होते थे। मनु ने स्पष्ट व्यवस्था दी थी कि राजा के द्वारा नियुक्त विद्वान् ब्राह्मण तीन सभ्यों के साथ सभा में प्रवेश करके अभियोगों का अवलोकन करें।<sup>12</sup>

कौटिल्य ने न्यायाधीशों (धर्मस्थ या प्राङ्गुवाक) को न्याय पालन के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश देते हुए उनको उनके कर्तव्य के विषय में भी जागरूक किया है। कौटिल्य के अनुसार न्यायाधीशों का परम कर्तव्य है कि वे अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड दें। तीर्थयात्री, तपस्वी, रोगी, भूख-प्यास से व्याकुल, लम्बे रास्ते को पार करने के कारण थकान युक्त, दूसरे राज्य से आये हुए, बार-बार दण्ड पाने के कारण खिन्न तथा निर्धन व्यक्तियों के प्रति उदारता का व्यवहार करें। देव, ब्राह्मण, तपस्वी, स्त्री, बालक, वृद्ध, रोगी, अनाथ तथा न्यायालय तक जाने में असमर्थ— इन सभी के व्यवहार सम्बन्धी कार्यों को स्वयं ही करें। विद्वान्, बुद्धिमान, पुरुषार्थी, कुलीन तथा अपने अच्छे कार्यों के कारण समाज में विशिष्ट स्थान पाने वाले व्यक्तियों का सम्मान करें तथा अपने सभी कार्यों को बिना छलकपट के सम्पन्न करें।<sup>13</sup>

विधि के साथ समय, सदाचार और विभिन्न जातियों के आचार भी न्यायपालिका के आधार थे। उनका परम्परा प्राप्त एवं संहिताबद्ध विधि के साथ समन्वय आवश्यक होता था। उनका राज्य के साथ सम्बन्ध स्थापित कर व्यवहार में लाना न्यायाधीशों का कार्य था। इसके लिए उन्हें 'न्याय एवं आत्मतुष्टि' का अधिकार दिया गया था। फलतः न्यायाधीशों को संहिताबद्ध विधि एवं राजशासन से स्वतंत्र होकर भी कार्य करने का अवसर मिला।<sup>14</sup> इससे वह समय,

सदाचार, व्यवहार और परम्परा का समन्वय इस प्रकार कर पाया कि धर्म के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य की रक्षा हो पायी और राजशासन के साथ समन्वय भी हुआ। इस स्थिति में न्यायाधीश समाज, राज्य और विधि के मध्य एक अनिवार्य कड़ी के रूप में था।

### सभ्य

प्रधान न्यायाधीश के साथ उसकी सहायता के लिए कुछ सहायक न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। इसका उल्लेख हमें मनुस्मृति, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा गौतम धर्मसूत्र एवं बौधायन धर्मसूत्र में मिलता है। मनु के अनुसार राजा को चाहिए कि वह तीन सभ्यों (न्यायिक व्यवस्था के सदस्य) की नियुक्ति मुख्य न्यायाधीश के सहायक के रूप में करे। न्यायिक सभा के तीन या पाँच सदस्य न्यायिक व्यवस्था में राय मात्र देते थे और निर्णय का अधिकार मुख्य न्यायाधीश के पास ही होता था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः न्यायालय में उपस्थित लोगों से भी यदा-कदा किसी खास बात पर राय ली जाती थी।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे सदस्यों की संख्या दस भी होती थी और साथ ही इस प्रकार के पाँच, तीन या एक सदस्य का भी प्रावधान किसी खास विवाद के बारे में होता था।<sup>15</sup> इन तथ्यों से प्रकट होता है कि राज्य द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी और उनकी सहायता के लिए कुशल एवं योग्य सहायक की भी नियुक्ति की जाती थी। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार किसी वाद के निर्णय में न्यायाधीशों द्वारा अलग-अलग राय होने पर राजा को चाहिए कि तीन वेदों और अन्य विद्याओं में पारंगत व्यक्तियों की राय से ऐसे वादों का निर्णय करें।<sup>16</sup> राजा से अधिकृत तीन विद्वान् ब्राह्मण जहाँ भी एकत्र हो जाएँ उसे ही सभा का रूप दिया जा सकता था।<sup>17</sup> मनु आदि धर्मशास्त्रकार मानते हैं कि सभा में जाकर सत्य बोलना चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने से झूठ बोलने वाला व्यक्ति पाप का भागी बनता है। अतएव राजा का कर्तव्य था कि वह धर्मात्मा सभासदों को न्यायिक कार्य नियुक्त करें तथा सभासदों का कर्तव्य था कि वे धर्म को लक्ष्य कर अपराध के अनुसार अपराधी को दण्डित करें। अतः सभ्य को विद्वान्, योग्य, धर्मात्मा तथा न्यायप्रिय होना चाहिए।

**प्रदेष्टा:**— 'प्रदेष्टा' शब्द का प्रयोग केवल कौटिल्य अर्थशास्त्र में ही मिलता है। प्रदेष्टा कण्टकशोधन न्यायालय का प्रधान अधिकारी या न्यायाधीश माना जाता था। न्यायाधीश की भाँति 'प्रदेष्टा' के पद पर भी वही अमात्य नियुक्त किया जाना चाहिए जो, धार्मिक उपाय से की जाने वाली 'धर्मोपधा' नामक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका हो।<sup>18</sup> इनका कार्य था— प्रजा को काँटों के समान सताने वाले दुष्टों से प्रजा की रक्षा करना। न्यायाधीश की ही भाँति 'कण्टकशोधन' के लिए तीन-तीन प्रदेष्टाओं की नियुक्ति एक स्थान (दो जनपदों की सीमा आदि) में की जानी चाहिए।<sup>19</sup> इसके अलावा वह राज्य या शासन के विरुद्ध अपराधियों, अपराधों के कारणों, आदमी की छोटी बड़ी हैसियत का पता लगाता था। तथा देशकाल पर अच्छी तरह विचार कर न्यायानुसार दण्ड देता था। इस प्रकार वह न्याय कार्य में सहयोगी रहता था।

### पुरोहित

पुरोहित को राज्य का आधा अंश माना गया है और वैदिककाल से धर्मशास्त्रों तक उसका अस्तित्व पाया जाता है। उसकी योग्यताओं से स्पष्ट होता है कि, वह ब्राह्मण हो, विधिज्ञ होता और वाणी एवं रूप से युक्त शीलवान एवं सदाचार का पालन करने वाला हो।<sup>20</sup> उसे केवल धर्म कार्य करने वाला न समझकर राज्य संगठन में योग देने वाला समझा जाना उपयुक्त होगा। न्यायिक प्रशासन में वह निर्णय और राजा के कार्य एवं व्यवहार का निरीक्षण करता था।

### ग्रामणी

वैदिक काल में 'ग्रामणी' का महत्वपूर्ण स्थान था। वह न्यायिक प्रशासन में स्थानीय इकाई का प्रधान था। उसका पद चुना हुआ था और अपराध विधि में उसे अधिक अधिकार प्राप्त थे। वेदों में उल्लिखित 'ग्रामवादिन' मैक्डॉनल और कीथ ग्रामसभा का अध्यक्ष मानते हैं। आगे चलकर ग्रामणी की नियुक्ति राजा द्वारा होने लगी। धर्मसूत्रों के बाद ग्रामों का संगठन केन्द्र के निर्देशन में होने से ग्राम का प्रधान राजकर्मचारी के रूप में हो गया। वह कर-संग्रह आदि के साथ ग्राम की रक्षा के लिए जिम्मेदार था। व्यवहार विधि के विवाद के निर्णय में उसे महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। कौटिल्य ने 'ग्राम वृद्धों' के हाथ में न्यायिक अधिकार दिया था।

### निष्कर्ष

प्राङ्गविवाक (न्यायाधीश), सभ्यों, पुरोहितों एवं ग्रामणी के कार्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन न्यायिक प्रशासन का उद्देश्य राजसत्ता, शासन या राजा की इच्छा के स्थान पर जनकल्याण एवं जनता के न्यायिक अधिकार की रक्षा था। अनियुक्त सभ्य भी न्याय में सहायता देते थे। इस व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य न्याय प्राप्त करने की सुविधा की सर्वोच्च व्यवस्था थी। सभ्यों में समाज के विभिन्न वर्णों के प्रतिनिधि थे। न्यायालय केवल संहिताबद्ध विधि पर ही निर्भर नहीं कर सकता था। विभिन्न जातियों, श्रेणियों एवं समुदायों के व्यवहार का न्यायाधीश अवलोकन करता था। उनके अधिकारों के रक्षा के लिए आवश्यक था कि उनके प्रतिनिधि स्वयं उसमें स्वीकृति दें। स्थानीय संगठनों के विधान की स्वीकृति अपस्तम्ब और बौधायन धर्मसूत्रों में भी बताई गयी है।<sup>21</sup> न्यायिक प्रशासन में राजा तथा अन्य पदाधिकारियों के कार्य एवं विधीय स्तर देखने पर न्यायाधीशों के उत्तरदायित्व और उनकी तटस्थता पर प्रकाश पड़ता है। वे निर्णय विधि के आधार पर ही करते थे। न्याय पाने का सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त था तथा इस उद्देश्य की पूर्ति न्यायाधीश द्वारा होती थी। इस प्रकार के समन्वय से व्यक्ति एवं समाज के अधिकार और कर्तव्य की पूर्ण व्यवस्था की गयी थी। फलतः राजा की निरंकुश शक्ति का विकास नहीं हो सका था। अतः इस प्रकार की व्यवस्था की उपादेयता पर वर्तमान समय में विचार करना अत्यावश्यक हो गया है।

### संदर्भ

1. यदा स्वयं न कुर्यात् तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
2. तदा नियुञ्ज्याद् विद्वांसं ब्राह्मणं कार्य-दर्शने।।-मनुस्मृति 8/9
3. मनुस्मृति 8/1 तथा 8/10
4. अर्थशास्त्र 1/10/6/2-6, 20
5. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/1
6. गौतम धर्मसूत्र 2/4/26, 27, 31
7. मनुस्मृति 8/25-26
8. मनुस्मृति 8/18
9. जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् ब्राह्मणब्रुवः।
10. धर्मप्रवक्ता नृपतेर् न तु शूद्रः कथञ्चन।।-मनुस्मृति 8/20
11. अर्थशास्त्र 2/10/28/65
12. अमात्याः प्राङ्गविवाको वा यत् कुर्युः कार्यमन्यथा।
13. तत् स्वयं नृपतिः कुर्यात् तान् सहस्रं च दण्डयेत्।।-मनुस्मृति 9/234 तथा मनुस्मृति 9/231
14. कौटिल्य अर्थशास्त्र 4/9/84/35, 36, 37
15. सोऽस्यकार्याणि सम्पश्येत् सभ्यैरेव त्रिभिर् वृतः।-मनुस्मृति 8/10
16. कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/20/74-75/26-31
17. अर्थशास्त्र 3/1/57-58/57
18. बौधायन धर्मसूत्र 1/1/8-9
19. गौतम धर्मसूत्र 2/2/25
20. मनुस्मृति 8/11
21. कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1/10/6/2-6, 20